पञ्चवटी

श्रीराम

पंचवटी

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

प्रकाशक—
साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

छब्बीसवाँ संस्करण
२००७ वि०

मूल्य
।=)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।
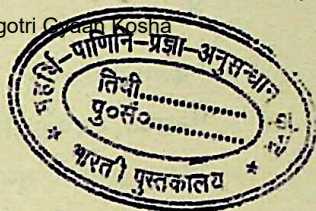
श्रीः

पूर्वाभास

पूज्य पिता के सहज सत्य पर वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके पीछे चलीं गहन वन को!
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत बदन से उत्तर पाया—"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ।"

सीता बोलीं कि "ये पिता की आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बन कर क्यों घर से मुहँ मोड़ चले?"
उत्तर मिला कि "आर्ये, बरबस बना न दो मुझको त्यागी
आर्य्य-चरण-सेवा में समझो मुझको भी अपना भागी॥"

"क्या कर्तव्य यही है भाई ?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य, आपके प्रति इस जन ने कब कब क्या कर्तव्य किया ?"
"प्यार किया है तुमने केवल।" सीता यह कह मुसकाई,
किन्तु राम की उज्वल आँखें सफल सीप-सी भर आई॥
जिस सीप में मोती हो

श्रीगणेशायनमः

पंचवटी

चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥

पञ्चवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥

किस व्रत में है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किये,
राजभोग्य के योग्य विपिन में बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका तन है, मन है, जीवन है?

मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने स्वामि-सङ्ग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह कुटी आज अपनाई है।
वीर-वंश की लाज यही है फिर क्यों वीर न हो प्रहरी?
विजन देश है, निशा शेष है, निशाचरी माया ठहरी॥

कोई पास न रहने पर भी जन-मन मौन नहीं रहता;
आप आपकी सुनता है वह, आप आपसे है कहता।
बीच बीच में इधर उधर निज दृष्टि डाल कर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है धीर धनुर्धर नई नई—

"क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह, है क्या ही निस्तब्ध निशा;
है स्वच्छन्द-सुमन्द गन्धवह, निरानन्द है कौन दिशा?
बन्द नहीं, अब भी चलते हैं नियति-नटी के कार्य्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से कितने शान्त और चुपचाप!

है बिखेर देती वसुन्धरा मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको सदा सबेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी सन्ध्या को दे जाता है;
शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है।
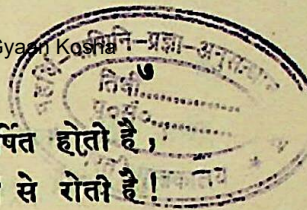
सरल तरल जिन तुहिन कणों से हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है!
अनजानी भूलों पर भी वह अदय दण्ड तो देती है,
पर बूढ़ों को भी बच्चों-सा सदय भाव से सेती है॥

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके, पर है मानों कल की बात,
वन को आते देख हमें जब आर्त्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब अवधि पूर्ण होगी वन की;
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को इससे बढ़ कर किस धन की?

और आर्य्य को? राज्य-भार तो वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सबको भी मानों विवश विसारेंगे।
कर विचार लोकोपकार का हमें न इससे होगा शोक;
पर अपना हित आप नहीं क्या कर सकता है यह नरलोक?

मझली माँ ने क्या समझा था? कि मैं राजमाता हूँगी,
निर्वासित कर आर्य्य राम को, अपनी जड़ें जमा लूँगी!
चित्रकूट में किन्तु उसे ही देख स्वयं करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी निज को ही न देख सकती!

अहो? राजमातृत्व यही था, हुए भरत भी सब त्यागी;
पर सौ सौ सम्राटों से भी हैं सचमुच वे बड़भागी।
एक राज का मूढ़ जगत ने कितना महा मूल्य रक्खा,
हमको तो मानों वन में ही है विश्वानुकूल्य रक्खा!

होता यदि राजत्व मात्र ही लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको छोड़ मार्ग लेते वन का?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे पूर्व-भाव ही भाते हैं॥

जो हो, जहाँ आर्य्य रहते हैं वहीं राज्य वे करते हैं;
उनके शासन में वनचारी सब स्वच्छन्द विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर में जिन्हें पींजरों में कर बन्द;
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं हिले यहाँ स्वयमपि, सानन्द।

करते हैं हम पतित जनों में बहुधा पशुता का आरोप,
करता है पशुवर्ग किन्तु क्या निज निसर्ग नियमों का लोप?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको, पञ्चवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्य्या को वे सब यहाँ रिझाते हैं?

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी,
चञ्चल जल कल-कल कर मानों तान ले रहा है अब भी!
नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं॥

वैतालिक विहङ्ग भाभी के सम्प्रति ध्यान लग्न-से हैं,
नये गान की रचना में वे कवि-कुल-तुल्य मग्न-से हैं।
बीच बीच में नर्त्तक केकी मानों यह कह देता है—
मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल कौन बड़ाई लेता है॥

आँखों के आगे हरियाली रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की वैसी विमल रम्य रुचि है?

मुनियों का सत्संग यहाँ है, जिन्हें हुआ है तत्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे नित्य नये अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कण्टकों में है जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला॥

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनिकन्याएँ यश गाती हैं क्या ही पुण्य-पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन-राज्य में सुख पूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं॥

गुह, निषाद, शवरों तक का मन रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं इनके भोले आनन में!
इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

कभी विपिन में हमें व्यजन का पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल, मधु, कन्द, मूल, फल आयोजन मय भोजन है।
मनःप्रसाद चाहिए केवल क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद ?
भावी का आह्लाद अतुल है मँझली माँ का विपुल विषाद !

अपने पौधों में जब भाभी भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निरातीं जब वे अपनी खेती हैं।
पाती हैं तब कितना गौरव, कितना सुख, कितना सन्तोष !
स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुवेर का कोष॥

सांसारिकता में मिलती है यहाँ निराली निस्पृहता,
अत्रि और अनुसूया की-सी होगी कहाँ पुण्य-गृहता ?
मानों है यह भुवन भिन्न ही, कृत्रिमता का काम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी, कहीं विकृति का नाम नहीं॥

स्वजनों की चिन्ता है हमको, होगा उन्हें हमारा सोच,
यही एक इस विपिन-वास में दोनों ओर रहा सङ्कोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही कभी नहीं सह सकता प्रेम;
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका रक्षित-सा रहता है क्षेम॥

इच्छा होती है स्वजनों को एक वार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को वे घर की ही भाँति प्रसन्न;
मानों वन-विहार में रत हैं ये वैसे ही श्रीसम्पन्न॥

यदि बाधायें हुईं हमें तो उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह सहनशक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह॥

नहीं जानतीं हाय! हमारा माताएँ आमोद-प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल, कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या विद्वज्जन जीवन-संग्राम?
तो इसमें सुनाम कर लेना है कितना साधारण काम॥

बेचारी ऊर्मिला हमारे लिए व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन में होंगे इतने सुख-भोगी!"
मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोल तो यह क्या, अनुपम रूप, अलौकिक वेष॥

चकाचौंध-सी लगी देख कर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सङ्कोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला!
रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग जगते थे॥

थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही!
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा मानों छवि से छलक रही!
किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती मानों उसे पा चुकी थी,
भूली-भटकी मृगी अन्त में अपनी ठौर आ चुकी थी॥

कटि के नीचे चिकुर-जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौंरों के साथ।
दायाँ हाथ लिये था सुरभित चित्र-विचित्र-सुमन-माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला!

पर सन्देह-दोल पर ही था लक्ष्मण का मन झूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार-चक्र में थे वे, कहाँ न जानें कूल रहा;
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह सम्मुख कैसा फूल रहा!

देख उन्हें विस्मित विशेष वह सुस्मितवदनी ही बोली—
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर हो कर अबला को देख सुभग, तुम थकित हुए,
संसृति की स्वभाविकता पर चञ्चल होकर चकित हुए!

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही, पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता होती क्या प्रतिभात नहीं?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर निज गम्भीर भाव लाये—

"सुन्दरि, मैं सचमुच विस्मित हूँ तुमको सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला, निकल पड़ी तुम कौन, कहाँ,
पर अबला कह कर अपने को तुम प्रगल्भता रखती हो!
निर्ममता निरीह पुरुषों में निस्सन्देह निरखती हो!

पर मैं ही यदि परनारी से पहले सम्भाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित पुरुषों की सुधर्मपरता।
जो हो, पर मेरे बारे में बात तुम्हारी सच्ची है,
चण्डि, क्या कहूँ, तुमसे मेरी ममता कितनी कच्ची है॥

माता, पिता और पत्नी की, धन की, धाम-धरा की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी जीवन-परम्परा की भी।
एक—किन्तु उन बातों से क्या, फिर भी हूँ मैं परम सुखी,
ममता तो महिलाओं में ही होती है हे मंजुमुखी!

शूरवीर कह कर भी मुझको तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो।
भाषण-भङ्गी देख तुम्हारी हाँ मुझको भय होता है,
प्रमदे, तुम्हें देख वन में यों मन में संशय होता है॥

कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा सङ्कोच कहाँ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य कि लोच कहाँ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोली भाली,
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रञ्जित रहस्यवाली?"

"केवल इतना कि तुम कौन हो" बोली वह हा "निष्ठुर कान्त!
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या' कैसे हो मेरा मन शान्त?
मुझे जान पड़ता है, तुमसे आज छली जाऊँगी मैं?
किन्तु आगई हूँ जब, तब क्या सहज चली जाऊँगी मैं?

समझो मुझे अतिथि ही अपना, कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?
पत्थर पिघले, किन्तु तुम्हारा तब भी हृदय हिलेगा क्या ?"
किया अधर-दंशन रमणी ने, लक्ष्मण फिर भी मुसकाये ;
मुसकाकर ही बोले उससे—"हे शुभ मूर्त्तिमती माये ॥

तुम अनुपम ऐश्वर्यवती हो, एक अकिञ्चन जन हूँ मैं ;
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, वनवासी, निर्धन हूँ मैं।"
रमणी ने फिर कहा कि "मैंने भाव तुम्हारा जान लिया,
जो धन तुम्हें दिया है विधि ने देवों को भी नहीं दिया ॥

किन्तु विराग भाव धारण कर बने स्वयं यदि तुम त्यागी,
तो ये रत्नाभरण वार दूँ तुम पर मैं हे बड़भागी !
धारण करूँ योग तुम-सा ही भोग-लालसा के कारण,
पर कर सकती हूँ मैं यों ही विपुल-विघ्न-बाधा वारण ॥

इस व्रत में किस इच्छा से तुम व्रती हुए हो बतलाओ ?
मुझमें वह सामर्थ्य है कि तुम जो चाहो सो सब पाओ !
धन की इच्छा हो तुमको तो सोने का मेरा भू-भाग,
शासक भूप बनो तुम उसके, त्यागो यह अति विषम विराग ॥

और, किसी दुर्जय वैरी से लेना है तुमको प्रतिशोध,
तो आज्ञा दो, उसे जला दे कालानल-सा मेरा क्रोध।
प्रेम-पिपासु किसी कान्ता के तपस्कूप यदि खनते हो,
तो सचमुच ही तुम भोले हो, क्यों मन को यों हनते हो ?

अरे, कौन है, वार न देगी जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हा हा ! करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम एक और अवसर दो दानि ?"

लक्ष्मण फिर गम्भीर हो गये, बोले—"धन्यवाद धन्ये !
ललना-सुलभ सहानुभूति है निश्चय तुम में नृप कन्ये।
साधारण रमणी कर सकती है ऐसे प्रस्ताव कहीं ?
पर मैं तुमसे सच कहता हूँ, कोई मुझे अभाव नहीं ॥"

"तो फिर क्या निष्काम तपस्या करते हो तुम इस वय में ?
पर क्या पाप न होगा तुमको आश्रम के धर्म्मक्षय में ?
मान लो कि वह न हो, किन्तु इस तप का फल तो होगा ही,
फिर वह स्वयं प्राप्त भी तुमसे क्या न जायगा भोगा ही ?

वृक्ष लगाने की ही इच्छा कितने ही जन रखते हैं,
पर उनमें जो फल लगते हैं क्या वे उन्हें न चखते हैं ?"
लक्ष्मण अब हँस पड़े और यों कहने लगे—"दुहाई है;
सेंतमेंत की तापस पदवी मैंने तुमसे पाई है ॥

यों ही यदि तप का फल पाऊ तो मैं उसे न चक्खूँगा,
तुमसे जन के लिए यत्न से उसको रक्षित रक्खूँगा।"
हँसी सुन्दरी भी, फिर बोली—"यदि वह फल मैं ही होऊ'
तो क्या करो, बताओ? बस अब, क्यों अमूल्य अवसर खोऊँ ?"

"तो मैं योग्य पात्र खोजूँगा, सहज परन्तु नहीं यह काम ;"
"मैंने खोज लिया है उसको, यद्यपि नहीं जानती नाम।
फिर भी वह मेरे समक्ष है," चौंके लक्ष्मण, बोले—"कौन ?"
केवल "तुम" कह कर रमणी भी हुई तनिक लज्जित हो मौन !

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले ?"
"पर क्या पुरुष नहीं होते हैं दो दो दाराओं वाले,
नर-कृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ पहले ही कर बैठे नर !"

"तो नारियाँ शास्त्र-रचना कर क्या बहुपति का करें विधान ?
पर उनके सतीत्व गौरव का करते हैं नर ही गुणगान।
मेरे मत में एक ओर हैं शास्त्रों की विधियाँ सारी,
अपना अन्तःकरण आप है आचारों का सुविचारी ॥

नारी के जिस भव्य भाव का स्वाभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।
बहुविवाह-विभ्राट, क्या कहूँ, भद्रे मुझको क्षमा करो ;
तुम कुशला हो, किसी कृती को करो कहीं कृतकृत्य, वरो ॥"

"पर किस मन से वरूँ किसीको ? वह तो तुमसे हरा गया !"
"चोरी का अपराध और भी लो, यह मुझ पर धरा गया !"
"झूठा ?" प्रश्न किया प्रमदा ने और कहा—"मेरा मन हाय !
निकल गया है मेरे कर से होकर विवश, विकल, निरुपाय !

1952

कह सकते हो तुम कि चन्द्र का कौन दोष जो ठगा चकोर ?
किन्तु कलाधर ने डाला है किरण-जाल क्यों उसकी ओर ?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो जलता कैसे कूद पतंग !
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या व्याध पकड़ता नहीं कुरंग ?

लेकर इतना रूप कहो तुम दीख पड़े क्यों मुझे छली ?
चले प्रभात-वात फिर भी क्या खिले न कोमल कमल कली ?"
कहने लगे सुलक्षण लक्ष्मण—"हे विलक्षणे, ठहरो तुम ;
पवनाधीन पताका-सी यों जिधर तिधर मत फहरो तुम ॥

जिसकी रूप-स्तुति करती हो तुम आवेग युक्त इतनी,
उसके शील और कुल की भी अवगति है तुमको कितनी ?
उत्तर देती हुई कामिनी बोली अंग शिथिल करके—
"हे नर, यह क्या पूछ रहे हो अब तुम हाय ! हृदय हरके ?

अपना ही कुल-शील प्रेम में पड़कर नहीं देखतीं हम ;
प्रेम-पात्र का क्या देखेंगी प्रिय हैं जिसे लेखतीं हम ?
रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम ;
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर, हृदय-कपाट खोल दो तुम ॥"

"हा नारी ! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह ; अज्ञान
आत्मा का विश्वास नहीं यह है तेरे मन का विद्रोह ।
विष से भरी वासना है यह, सुधा पूर्ण यह प्रीति नहीं ;
रीति नहीं, अनरीति और यह अति अनीति है, नीति नहीं ॥

अपने आपको धोखा देना निश्वास

आत्मवञ्चना करती है तू किस प्रतीति के धोखे से ?
झाँक न झंझा के झोंके में झुक कर खुले झरोखे से ।
शान्ति नहीं देगी तुझको यह मृगतृष्णा करती है क्रान्ति ,
सावधान हो, मैं पर नर हूँ, छोड़ भावना की यह भ्रान्ति ॥

दूसरी स्त्री का नर हूँ

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग ;
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग ।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ, प्राची की अब भूषा थी ,
पञ्चवटी की कुटी खोल कर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी !

अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी ;
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की-सी मूर्ति न थी ।
वह मुख देख पाण्डु-सा पड़कर, गया चन्द्र पश्चिम की ओर ;
लक्ष्मण के मुहँ पर भी लज्जा लेने लगी अपूर्व हिलोर ॥

चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा देख सामने सीता को ,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह उन पद्मिनी पुनीता को ।
एक बार ऊषा की आभा देखी उसने अम्बर में ,
एक बार सीता की शोभा देखी विगताडम्बर में ॥

एक बार अपने अंगों की ओर दृष्टि उसने डाली ,
उलझ गई वह किन्तु—बीच में थी विभूषणों की जाली ।
एक बार फिर वैदेही के देखे अंग अदूषण वे ,—
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे—रखते थे शुभ भूषण वे ॥

हँसने लगे कुसुम कानन के देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डालों में निरख मैथिली की मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं, उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके जुड़ आई भौरों की भीर॥

नाटक के इस नये दृश्य के दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को कोलाहल भी करते थे,
पञ्चवटी की रङ्गभूमि को प्रिय भावों से भरते थे॥

सीता ने भी उस रमणी को देखा, लक्ष्मण को देखा;
फिर दोनों के बीच खींच दी एक अपूर्व हास-रेखा!
"देवर, तुम कैसे निर्दय हो, घर आये जन का अपमान।
किसके पर नर तुम, उसके जो चाहे तुमको प्राण-समान?

याचक को निराश करने में हो सकती है लाचारी,
किन्तु नहीं आई है आश्रय लेने को यह सकुमारी।
देने ही आई है तुमको निज सर्वस्व विना संकोच,
देने में कार्पण्य तुम्हें हो तो लेने में है क्या सोच?"

उनके अरुण चरण-पद्मों में झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम,
आशीर्वाद दिया सीता ने—"हों सब सफल तुम्हारे काम।"
और कहा—"सब बातें मैंने सुनीं नहीं, तुम रखना याद,
कब से चलता है बोलो, यह नूतन शुक-रम्भा-संवाद?"

बोलीं फिर उस बाला से वे सुस्मित पूर्वक वैसे ही—
"अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे ये देवर हैं ऐसे ही।
घर में ब्याही बहू छोड़कर यहाँ भाग आये हैं ये!
इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का यह विराग लाये हैं ये!

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो मैं भी इन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहो! तुम्हारा वर मैं इन्हें बनाऊँगी।
पर तुम हो ऐश्वर्यशालिनी, हम दरिद्र वन-वासी हैं;
स्वयं स्वामि-सेवक हैं हम निज, स्वयं स्वामिनी-दासी हैं॥

पर करना होगा न तुम्हें कुछ, सभी काम कर लूँगी मैं;
परिवेषण तक मृदुल करों से तुम्हें न करने दूँगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे तंग करें यदि तुम्हें कभी,
उन्हें क्षमा करना होगा तो, कह रखती हूँ इसे अभी!"

रमणी बोली—"रहे तुम्हारा मेरा रोम रोम सेवी,
कहीं देवरानी यदि अपनी मुझे बनालो तुम देवी!"
सीता बोलीं—"वन में तुम-सी एक बहन यदि पाऊँगी,
तो बातें करके ही तुमसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगी॥"

"इस भामा विषयक भाभी को अविदित भाव नहीं मेरे,"
लक्ष्मण को सन्तोष यही था फिर भी थे वे मुह फेरे।
बोल उठे अब—"इन बातों में क्या रक्खा है हे भाभी,
इस विनोद में नहीं दीखती मुझे मोद की आशा भी॥

"तो क्या मैं विनोद करती हूँ !" बोलीं उनसे वैदेही,
"अपने लिए रूक्ष हो तुम क्यों होकर भी भ्रातृ-स्नेही ?
आज ऊर्मिला की चिन्ता यदि तुम्हें चित्त में होती है,
कि वह विरहिणी बैठी मेरे लिए निरन्तर रोती है—॥

तो मैं कहती हूँ, वह मेरी बहन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुन कर पीछे भी पावेगी सच्चा सन्तोष।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही हम सब कुछ भर पाती हैं;
'वे सर्वस्व हमारे भी हैं' यही ध्यान में लाती हैं॥

जो वर-माला लिये, आप ही, तुमको वरने आई हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको अर्पण करने आई हो;
मज्जागत लज्जा तज कर भी तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव,
कर सकते हो तुम किस मन से उससे भी ऐसा बर्ताव ?"

मुसकाये लक्ष्मण, फिर बोले—"किस मन से मैं कहूँ भला ?
पहले मन भी तो हो मेरे जिससे सुख-दुख सहूँ भला !"
"अच्छा, ठहरो" कह सीता ने करके ग्रीवा-भङ्ग अहा !
"अरे, अरे," न सुना लक्ष्मण का, देख उटज की ओर कहा—

"आर्य्यपुत्र, उठ कर तो देखो, क्या ही सु-प्रभात है आज,
स्वयंसिद्धि-सी खड़ी द्वार पर करके अनुज-वधू का साज !"
क्षण भर में देखी रमणी ने एक श्याम शोभा बाँकी,
क्या शस्यश्यामल भूतल ने दिखलाई निज नर-झाँकी !

किंवा उतर पड़ा अवनी पर काम रूप कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें, जीवन का गहरापन था!
देखा रमणी ने, चरणों में—नत लक्ष्मण को उसने भेंट,—
अपने बड़े क्रोड़ में विधु-सा छिपा लिया सब ओर समेट॥

सीता बोलीं—"नाथ, निहारो यह अवसर अनमोल नया!
देख तुम्हारे प्राणानुज का तप सुरेन्द्र भी डोल गया!
माना, इनके निकट नहीं है इन्द्रासन की कुछ गिनती;
किन्तु अप्सरा की भी क्यों ये सुनते नहीं नम्र विनती?

तुम सबका स्वभाव ऐसा ही निश्चल और निराला है;
और नहीं तो आई लक्ष्मी कौन छोड़ने वाला है?
कुम्हला रही देखलो, कर में स्वयंवरा की वरमाला,
किन्तु कण्ठ देवर ने अपना मानों कुण्ठित कर डाला!"

मुसकाकर राघव ने पहले देखा तनिक अनुज की ओर,
फिर रमणी की ओर देख कर कहा अहा! ज्यों बोले मोर—
"शुभे, बताओ कि तुम कौन हो और चाहती हो तुम क्या?"
छाती फूल गई रमणी की, क्या चन्दन है, कुंकुम क्या॥

बोली वह—"पूछा तो तुमने—शुभे, चाहती हो तुम क्या?
इन दशनों-अधरों के आगे क्या मौक्तिक हैं, विद्रुम क्या?
मैं हूँ कौन, वेश ही मेरा देता इसका परिचय है,
और चाहती हूँ क्या, यह भी प्रकट हो चुका निश्चय है॥

जो कह दिया उसे कहने में फिर मुझको संकोच नहीं,
अपने भावी जीवन का भी जी में कोई सोच नहीं।
मन में कुछ, वचनों में कुछ हो, मुझमें ऐसी बात नहीं,
सरल शक्ति मुझमें अमोघ है, दाव पेंच या घात नहीं॥

मैं अपने ऊपर अपना ही रखती हूँ अधिकार सदा,
जहाँ चाहती हूँ, करती हूँ मैं स्वच्छन्द विहार सदा।
कोई भय मैं नहीं मानती, समय-विचार करूँगी क्या!
डरती हैं बाधाएँ मुझसे, उनसे आप डरूँगी क्या?

अर्द्ध यामिनी होने पर भी इच्छा हो आई मन में।
एकाकिनी घूमती-फिरती आ निकली मैं इस वन में।
देखा आकर यहाँ तुम्हारे प्राणानुज ये बैठे हैं,
मूर्ति बने इस उपल शिला पर भाव-सिन्धु में पैठे हैं।

सत्य मुझे प्रेरित करता है कि मैं उसे प्रकटित करदूँ,
इन्हें देख मन हुआ कि इनके आगे मैं उसको धरदूँ।
वह मन, जिसे अमर भी कोई कभी क्षुब्ध कर सका नहीं,
कोई मोह, लोभ भी कोई मुग्ध, लुब्ध कर सका नहीं॥

इन्हें देखती हुई आड़ में बड़ी देर मैं खड़ी रही,
क्या बतलाऊँ, किन हावों में, किन भावों में पड़ी रही?
फिर मानों मन के सुमनों से माला एक बना लाई,
इसके मिस अपने मानस की भेंट इन्हें देने आई॥

पर ये तो बस—'कहो कौन तुम ?' करने लगे प्रश्न छूछा,
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या ?' जैसा अब तुमने पूछा।
चाहे दोनों खरे रहें या निकले दोनों ही खोटे,
बड़े सदैव बड़े होते हैं, छोटे रहते हैं छोटे॥

तुम सबका यह हास्य भले ही करता हो मेरा उपहास,
किन्तु स्वानुभव, स्वविचारों पर है मुझको पूरा विश्वास।
तो अब सुनो, बड़े होने से तुममें बड़ी बड़ाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है, इनमें एक कड़ाई है॥

पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी जयमाला-सी वरमाला,
बने अभी प्रासाद तुम्हारी यह एकान्त पर्णशाला!
मुझे ग्रहण कर इस भामा के भूल जायँगे ये भ्रू-भङ्ग,
हेम-कूट कैलास आदि पर सुख भोगोगे मेरे सङ्ग!"

मुसकाईं मिथिलेशनन्दिनी—"प्रथम देवरानी! फिर सौत,
अङ्गीकृत है मुझे किन्तु तुम माँगो कहीं न मेरी मौत,
मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना!"

रामानुज ने कहा कि "भाभी, है यह बात अलीक नहीं—
औरों के झगड़े में पड़ना कभी किसी को ठीक नहीं।
पञ्चायत करने आई थीं अब प्रपञ्च में क्यों न पड़ो,
वञ्चित ही होना पड़ता है यदि औरों के लिए लड़ो!"

राघवेन्द्र रमणी से बोले—"बिना कहे भी वह वाणी,
आकृति से ही प्रकृति तुम्हारी प्रकटित है हे कल्याणी!
निश्चय अद्भुत गुण हैं तुममें, फिर भी मैं यह कहता हूँ—
गृहत्याग करके भी वन में सपत्नीक मैं रहता हूँ॥

किन्तु विवाहित होकर भी यह मेरा अनुज अकेला है,
मेरे लिए सभी स्वजनों की कर आया अवहेला है।
इसके एकाङ्गी स्वभाव पर तुमने भी है ध्यान दिया,
तदपि इसे ही पहले अपने प्रबल प्रेम का दान दिया॥

एक अपूर्व चरित लेकर जो उसको पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्मनिष्ठ जन जग में परम प्रतिष्ठा पाते हैं।
यदि इसको अपने ऊपर तुम प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज कथित गुणों को सबको तुम सत्यता जना दोगी॥

जो अन्धे होते हैं बहुधा प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को सब कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रेम को यदि तुम अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ, तुम भी परम धन्य होगी॥"

भेद-दृष्टि से फिर लक्ष्मण को देखा स्वगुण-गर्जनी ने,
वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण को अधरस्थिता तर्जनी ने।
बोले वे—"बस, मौन कि मेरे लिए हो चुकी मान्या तुम;
यों अनुरक्ता हुई आर्य्य पर जब अन्यान्य वदान्या तुम॥"

प्रभु ने कहा कि "तब तो तुमको दोनों ओर पड़े लाले,
मेरी अनुज-वधू पहले ही बनी आप तुम हे बाले!"
हुई विचित्र दशा रमणी की सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के और पवन के भिन्नाघात।

कहा क्रुद्ध होकर तब उसने—"तो अब मैं आशा छोड़ूँ?
जो सम्बन्ध जोड़ बैठी थी उसे आप ही अब तोड़ूँ?
किन्तु भूल जाना न इसे तुम मुझमें है ऐसी भी शक्ति,
कि झकमार कर करनी होगी तुमको फिर मुझ पर अनुरक्ति॥

मेरे भृकुटि-कटाक्ष-तुल्य भी ठहरेंगे न तुम्हारे चाप।"
बोले तब रघुराज—"तुम्हारा ऐसा ही क्यों न हो प्रताप।
किन्तु प्राणियों के स्वभाव की होती है ऐसी ही रीति,
पर-वशता हो सकती है पर होती नहीं भीति में प्रीति॥"

इतना कह कर मौन हुए प्रभु और तनिक गम्भीर हुए,
पर सौमित्रि न शान्त रह सके, उन्मुख वे वर वीर हुए—
और इसे तुम भी न भूलना, तुम नारी होकर इतना—
अहम्भाव जब रखती हो तब रख सकते हैं नर कितना?"

झंकृत हुई विषम तारों की तन्त्री-सी स्वतन्त्र नारी,—
"तो क्या अबलाएँ सदैव ही अबलाएँ हैं—बेचारी?
नहीं जानते तुम कि देख कर निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी प्रबलाएँ अपमान विचार!

पक्षपात मयं सानुरोध है जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो कामनियों का वैर-विरोध।
होता है विरोध से भी कुछ अधिक कराल हमारा क्रोध,
और, क्रोध से भी विशेष है द्वेष-पूर्ण अपना प्रतिशोध॥

देख क्यों न लो तुम, मैं जितनी सुन्दर हूँ उतनी ही घोर,
दीख रही हूँ जितनी कोमल हूँ उतनी ही कठिन-कठोर!"
सचमुच विस्मयपूर्वक सबने देखा निज समक्ष तत्काल—
वह अति रम्य रूप पल भर में सहसा बना विकट-विकराल!

सबने मृदु मारुत का दारुण झंझा-नर्तन देखा था,
सन्ध्या के उपरान्त तमी का विकृतावर्तन देखा था।
काल-कीट कृत वयस कुसुम-का क्रम से कर्तन देखा था,
किन्तु किसीने अकस्मात कब यह परिवर्तन देखा था!

गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से ओंठ लपालप लत्तों-से,
कुन्दकली से दाँत हो गये बढ़ बराह की डाढ़ों-से!
विकृत, भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढ़ों-से!

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ!
कन्धों पर के बड़े बाल वे बने अहो! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल!

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही उसके दीर्घ शरीर-सखा,
देख नखों को ही जँचती थी वह विलक्षणी शूर्पणखा!
भय-विस्मय से उसे जानकी देख न तो हिल-डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं॥

अग्रज और अनुज दोनों ने तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका, लक्ष्मण ने उसको टोका।
सीता सभल गईं जो देखी रामचन्द्र की मृदु-मुसकान;
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण सावधान कर उसे सुजान—

"मायाविनि, उस रम्य रूप का था क्या बस परिणाम यही?
इसी भाँति लोगों को छलना, है क्या तेरा काम यही?
विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है, हरा सकेगी तू न हमें॥

बाह्य सृष्टि-सुन्दरता है क्या भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, समझ मुझे भी प्रस्तुत, करता हूँ मैं वही उपाय;
कि तू न फिर छल सके किसीको, मारूँ तो क्या नारी जान,
विकलाङ्गी ही तुझे करूँगा, जिससे छिप न सके पहचान!"

उस आक्रमणकारिणी के झट लेकर शोणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक-कान काटे लक्ष्मण ने, लिये न उसके पापी प्राण!
और कुरूपा होकर तब वह रुधिर बहाती, बिल्लाती;
धूल उड़ाती आँधी ऐसी भगी वहाँ से चिल्लाती!

गूँजा किया देर तक उसका हाहाकार वहाँ फिर भी,
हुई उदास विदेह नन्दिनी आतुर एवं अस्थिर भी।
होने लगी हृदय में उनके वह आतङ्कमयी शङ्का,
मिट्टी में मिल गई अन्त में जिससे सोने की लङ्का!

"हुआ आज अपशकुन सबेरे, कोई सङ्कट पड़े न हा!
कुशल करे कर्तार" उन्होंने लेकर एक उसाँस कहा।
लक्ष्मण ने समझाया उनको—'आर्य्ये, तुम निःशङ्क रहो,
इस अनुचर के रहते तुमको किसका डर है, तुम्हीं कहो?

नहीं विघ्न-बधाओं को हम स्वयं बुलाने जाते हैं,
फिर भी वे यदि आजावें तो तो कभी नहीं घबराते हैं।
मेरे मत में तो विपदाएँ हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ;
उनसे वही डरें, कच्ची हों जिनकी शिक्षा-दीक्षाएँ॥

कहा राम ने कि "यह सत्य है सुख-दुख सब हैं समयाधीन,
सुख में कभी न गर्वित होवे और न दुख में होवे दीन।
जब तक सङ्कट आप न आवें तब तक उनसे डर माने,
जब वे आजावें तब उनसे डट कर शूर समर ठाने॥"

"यदि सङ्कट ऐसे हों जिनको तुम्हें बचा कर मैं झेलूँ,
तो मेरी भी यह इच्छा है एक बार उनसे खेलूँ।
देखूँ तो, कितने विघ्नों की वहन-शक्ति रखता हूँ मैं,
कुछ निश्चय कर सकूँ कि कितनी सहन-शक्ति रखता हूँ मैं।"

"नहीं जानता मैं, सहने को अब क्या है अवशेष रहा;
कोई कह न सकेगा, जितना तुमने मेरे लिए सहा।"
"आर्य तुम्हारे इस किङ्कर को कठिन नहीं कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

सीता कहने लगीं कि "ठहरो, रहने दो इन बातों को,
इच्छा तुम न करो सहने की आप आपदाघातों को।
नहीं चाहिए हमें विभव-बल, अब न किसी को डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का यों ही निभृत प्रवाह बहे॥

हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या, छोड़ी नहीं राज्य-निधि क्या?
सह न सकेगा कहो, हमारी इतनी सुविधा भी विधि क्या?"
"विधि की बात बड़ों से पूछो, वे ही उसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ, इसको सभी जानते हैं॥"

यह कह कर लक्ष्मण मुसकाये, रामचन्द्र भी मुसकाये;
सीता मुसकाईं, विनोद के पुनः प्रमोद भाव छाये।
"रहो रहो, पुरुषार्थ यही है,—पत्नी तक न साथ लाये;"
कहते कहते वैदेही के नेत्र प्रेम से भर आये॥

"चलो नदी को, घड़े उठा लो, करो और पुरुषार्थ क्षमा,
मैं मछलियाँ चुगाने को कुछ ले चलती हूँ धान, समा।"
घड़े उठा कर खड़े हो गये तत्क्षण लक्ष्मण गद्गद-से,
बोल उठे मानों प्रमत्त हो राघव महा मोद-मद से—

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूं तुम देवर-भाभी की ओर,
शीतल करूं हृदय यह अपना पाकर दुर्लभ हर्ष-हिलोर।"
यह कहकर प्रभु ने, दोनों पर पुलकित होकर, सुध-बुध भूल,
उन दोनों के ही पौधों के बरसाये नव विकसित फूल!

——

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लि[illegible]

साकेत	४)	किस[illegible]	
गुरुकुल	३)	शकुन्तला	
यशोधरा	१॥)	नहुष	॥=)
द्वापर	२)	विश्व-वेदना	।=)
सिद्धराज	१।)	काबा और कर्बला	१।)
हिन्दू	२)	कुणाल गीत	१॥)
जयद्रथ-वध	।॥)	अर्जनऔरविसर्जन	।=)
अनघ	१।)	वैतालिक	।)
पत्रावली	।-)	गुरु तेगबहादुर	।)
बक-संहार	।=)	स्वप्न वासवदत्ता	१)
वन-वैभव	।=)	रङ्ग में भङ्ग	।)
सैरन्ध्री	।=)	विकट भट	=)
भारत-भारती	१॥)	अजित	१॥)

आपके अन्य ग्रन्थ और

श्रीसियारामशरणजी गुप्त के सारे ग्रन्थ भी हमसे मँगाइए।

प्रबन्धक— साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)